साझा ज़मीन की घेराबंदी से बढ़ा सामाजिक संकट

करीब एक दशक पहले तक पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के दियारा/खादर क्षेत्रों में कुछ दूरी से अवलोकन करने पर भैंसों

का असंख्य हुजूम बालू और घास के आसमान पर काले तारों की तरह टिमटिमाते हुए दिखता था। बीच में कहीं–कहीं गायों और बैलों का छोटा समूह भी दिख जाता था। भैंसें दिन भर रेत पर चरतीं और नदी की धारा में बैठी अथवा तैरती रहतीं। चरवाहे नदी किनारे स्थित पेड़ों के झुरमुट और बगीचों में बैठकर नज़र रखते। गमछों में बाँधकर लाया गया दोपहर का भोजन इकट्ठे खाया जाता। पूरा दिन बतकही में निकलता। यद–कदा भैंसें अगर अवांछित दिशा में जातीं तो कोई एक चरवाहा उठकर उनको हाँककर वापस मोड़ देता।

अब दियारों की सूरत बियाबान–सी लगती है। रेत के मैदान खाली और सपाट दिखते हैं। चरवाही की परंपरा अवसान की ओर है, और इसके कई कारण हैं। चरागाह ख़त्म हो रहे हैं; परती ज़मीनें जोती जा रही हैं। कुएँ तो कब के ग़ायब हो चुके थे। तालाब और पानी के स्रोतों को पाटकर उन पर भी क़ब्ज़ा जमाया जा रहा है। बिना चरागाहों और तालाबों के चरवाही मुश्किल हो गई है। चरवाही का विलीन होना एक आर्थिक गतिविधि का अवसान मात्र नहीं है। यह सामुदायिक श्रम के सबसे पुरातन स्वरूपों में से एक का ख़त्म होना भी है—एक ऐसी सामूहिक जगह का ख़त्म होना जहाँ ग्रामीण पुरुषों की रचनाशीलता आपस में मिलती; गल्प, मज़ाक और गीत गढ़ती। चैता, सोरठा, बृजभार जैसी शैलियों के गीत गाए जाते, उनकी तर्ज़ पर नए बोल जोड़े जाते। नई पीढ़ी इनको आत्मसात करती। बच्चों की गर्मियों की छुट्टियाँ प्राय: नदी में नहाते, बगीचों और परती मैदानों में खेलते बीततीं; नदी किनारे और बगीचों में ठहरे चरवाहों और बुज़ुर्गों के पास बैठकर वे पुरानी कहानियाँ सुनते, गीत सीखते।

बाग–बगीचों और परती ज़मीनों के जाने की वजह से खेलने की जगहें भी चली गई हैं। पहले पूरा गाँव ही खेल का मैदान हुआ करता था। बच्चे झुंड बनाकर गाँव के एक कोने से दौड़ते, कलरव करते, दूसरे छोर तक चले जाते थे। अब मकानों को चहारदीवारियों से घेरने का चलन चल पड़ा है। ज़मीन की एक–एक इंच पर क़ब्ज़े का चलन ऐसा है कि गलियाँ और सड़कें संकरी होती जा रही हैं। गाँव के एक छोर से दूसरे छोर तक जाना तो दूर, एक छोटी दूरी तय करने का रास्ता भी घुटन से भरा होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक अदम्य भूख इन सामुदायिक जगहों को धीरे–धीरे लील रही है—सामुदायिक जगहों को भी और घरों को भी। और यह लील रही है बच्चों का बचपन।

इस अदम्य भूख का एक नाम है—घेराबंदी (साझा जगहों को निजी बना देने की प्रक्रिया)।

ग्रामीण भारत का बदलता ताना–बाना

यह घेराबंदी कोई स्थानीय या नई परिघटना नहीं है। गाँव की साझा ज़मीन—उत्तर भारत में जिसे प्राय: ग्राम–सभा या ग्राम–पंचायत की भूमि कहा जाता है—पर क़ब्ज़े का सिलसिला इतना व्यापक हो चुका है कि देश की सर्वोच्च अदालत को इस पर सख़्त टिप्पणी करनी पड़ी। 2011 के **जगपाल सिंह बनाम पंजाब राज्य** मामले में उच्चतम न्यायालय ने माना कि सदियों से गाँव की ये साझा भूमि—तालाब, चरागाह, श्मशान, रास्ते—समूचे समुदाय के साझा उपयोग के लिए रही हैं, किन्तु आज़ादी के बाद धनबल, बाहुबल और राजनीतिक रसूख़ वाले लोगों ने, अधिकारियों की मिलीभगत से, इन पर व्यवस्थित ढंग से क़ब्ज़ा कर लिया। जिस मामले की सुनवाई हो रही थी, वह ख़ुद एक ऐसे तालाब का था जिसे मिट्टी से पाटकर उस पर मकान खड़े कर दिए गए थे—आज यह दृश्य असंख्य गाँवों और दियारों में आम है। अदालत ने सभी राज्य सरकारों को निर्देश दिया कि वे साझा ज़मीनों से अवैध क़ब्ज़े हटाएँ। लेकिन फ़ैसले के एक दशक बाद भी हालात जस के तस हैं: क़ब्ज़े बने हुए हैं, और जहाँ हटाए भी गए, वहाँ अक्सर वे ग़रीब परिवार उजड़े जो पीढ़ियों से बिना किसी काग़ज़ के पंचायती ज़मीन पर बसे थे। घेराबंदी की मार, अंतत:, ग़रीब पर ही दोनों तरफ़ से पड़ती है।

घेराबंदी की प्रवृत्ति नब्बे के दशक में अपनाई गई नवउदारवादी नीतियों के साथ और तेज़ी से बढ़ी। इन नीतियों का मूल तर्क यही है कि जो भी साझा है, जो भी लोगों के काम का है—ज़मीन, पानी, स्कूल, अस्पताल—उसे बाज़ारू वस्तु बना दिया जाए, ताकि लोग उसे आपस में ख़रीदें–बेचें। हमारे असमान समाज में, जहाँ उत्पादन के साधनों पर एक छोटे तबके का स्वामित्व रहा है, इन नीतियों के कारण असमानता बढ़ती गई है।

ग्रामीण मज़दूर और किसान वर्ग पहले ही एक असमान आर्थिक विकास प्रक्रिया का दंश झेल रहा है। शहरी उद्योगों का विस्तार रुका हुआ है, ग़ैर–कृषि रोज़गार का सृजन नगण्य है, और गाँव में रोज़गार ढूँढ़ते लोगों की क़तार लंबी होती जा

रही है। एक नौकरी के लिए हज़ारों के खड़े होने का नतीजा यह कि निजी उद्योग भरण–पोषण भर के लिए भी नाकाफ़ी मज़दूरी देते हैं। संक्षेप में, हमारे असमान समाज में नवउदारवाद ने श्रम के सस्तीकरण को बढ़ावा दिया है।

दूसरी तरफ़, शिक्षा और स्वास्थ्य—जिनकी माँग कभी नहीं घटती—सबसे कम जोख़िम और सबसे ऊँचे मुनाफ़े वाले धंधे बन गए हैं। न स्कूलों की फ़ीस पर कोई नकेल है, न इलाज की। दिल्ली के एम्स और सफ़दरजंग जैसे अस्पतालों के बाहर महीनों तक इलाज की आस में अमानवीय हालात में पड़े रहने वाले बिहार, बंगाल और उत्तर प्रदेश के लोग इस व्यवस्था की जर्जर तस्वीर की एक बानगी भर हैं। जिनके पास साधन हैं वे इलाज और पढ़ाई के लिए शहर पलायन कर जाते हैं; असंख्य परिवार साधनों के अभाव में अपने सपनों का गला घोंटकर भाग्य के भरोसे छूट जाते हैं। यह केवल सपनों की मौत नहीं, लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोगों के भरोसे की मौन पराजय भी है। शहर खुद निरंकुश खर–पतवार की तरह फैल रहे हैं, और सरकार ने उनके विस्तार को भी बाज़ार के हवाले कर रखा है—न कोई नियोजन है, न बुनियादी सामुदायिक ढाँचे का कोई एजेंडा। अमीर इलाक़ों को छोड़ दें तो ये शहर इंसानों को वस्तुओं की तरह उत्पादित करने वाले कारखाने अधिक लगते हैं, जहाँ न लोगों के हिलने–मिलने की जगह है, न बच्चों के कलरव की।

सिमटता बचपन का दायरा

विकास की इस नवउदारवादी परिकल्पना से प्रभावित एक तबक़ा ऐसा है जिसकी बात व्यापक ढंग से नहीं हो पाती—बच्चे। अंग्रेज़ी माध्यम के निजी स्कूलों और कोचिंग का उभार ऐसा हुआ है कि जिसके पास साधन हैं वह बच्चों को निजी स्कूल भेज रहा है और अनिवार्यत: कोचिंग भी करा रहा है; सरकारी स्कूल मुख्यत: ग़रीबों के बच्चों के लिए रह गए हैं। मेधावी बच्चों को शहरों में पढ़ने भेजा जा रहा है—अकेले या सपरिवार। बेहतर शिक्षा की प्रबल आकांक्षा और महँगी, खस्ताहाल होती शिक्षा–व्यवस्था की यह विडंबना आज के भारत की हक़ीक़त है। रही–सही कसर प्रतियोगी परीक्षाओं के स्वरूप ने पूरी कर दी है: स्कूली परीक्षाओं से लेकर अच्छे कॉलेजों और सरकारी नौकरियों के इम्तिहान पाठ्यक्रम से इतने दूर होते जा रहे हैं कि बिना कोचिंग के उन्हें पास करना असंभव–सा है। नतीजतन कोचिंग का धंधा खूब फल–फूल रहा है।

इस धंधे का सबसे ख़तरनाक रूप राजस्थान के कोटा में दिखता है। आईआईटी और मेडिकल की तैयारी के इस 'कारखाने' में हर साल देश भर से हज़ारों किशोर जुटते हैं, और हर साल कुछ लौटकर नहीं आते। अकेले 2023 में वहाँ दो दर्जन से अधिक विद्यार्थियों ने पढ़ाई के दबाव में अपनी **जान** दे दी।

बचपन दोहरी मार की चपेट में है। स्कूल और कोचिंग के बीच खेलने–कूदने का समय कम पड़ता जा रहा है, और खेलने की जगहें तो पहले ही घेराबंदी की भेंट चढ़ चुकी हैं। अपनी मातृभाषा, अपने लोकगीतों और संस्कृति को सीखने–सहेजने के अवसर भी उसी रफ़्तार से सिमट रहे हैं। पारंपरिक विधाओं और संस्कृति को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने वाली जगहें और परिस्थितियाँ, दोनों ही गहन दबाव में हैं।

बच्चे आने वाले समाज का स्वरूप तय करते हैं; वे कल के नागरिक हैं। जिस परिवेश में वे बड़े हो रहे हैं और जिन सामाजिक प्रक्रियाओं से उन्हें वंचित होना पड़ रहा है, वही आगे चलकर उनके व्यक्तित्व को गढ़ेंगी। समाज से काटकर सामाजिक रूप से कटिबद्ध इंसान का निर्माण नहीं किया जा सकता। एक ज़िम्मेदार नागरिक के निर्माण के लिए ज़रूरी है कि उसे सामाजिक प्रक्रियाओं में समुचित भागीदारी का मौका मिले, संस्कृति को आत्मसात करने और ख़ुद को उससे जोड़ने का पर्याप्त समय और मार्गदर्शन मिले।

बचपन की यह घेराबंदी कोई प्राकृतिक आपदा नहीं, एक राजनीतिक चुनाव है, और इस स्थिति को पलटा जा सकता है। पर अहम सवाल यह है कि हम किस तरह का समाज चाहते हैं—वह जो अपने बच्चों के लिए साझा जगह और साझा समय बचाकर रखे, या वह जो ज़मीन के हर इंच और बचपन के हर घंटे को मुनाफ़े की भट्ठी में झोंक दे। मातृभाषा, लोकगीत और साझा बचपन जैसे 'मुनाफ़ा–विहीन' सवाल अगर मौजूदा विकास–परिकल्पना को रास नहीं आते, तो इस परिकल्पना को ही कटघरे में खड़ा किया जाना चाहिए।

(लेख में शामिल स्केच सफ़दर हाशमी द्वारा बच्चों के लिए लिखी गई पुस्तक 'दुनिया सबकी' से लिए गए हैं।)

उमेश यादव